विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ

बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010

फोन : 0734-2521499, 0755-2660407

Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com

Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2

भ्रमण वृत्तांतों में सांस्कृतिक इतिहास
ऋतु मिश्र

पृष्ठ क्र. 3-4

प्राचीन भारत में कृषि व अन्य व्यवसाय
अनिरुद्ध कुमार वर्मा

पृष्ठ क्र. 5-6

भारतीय विद्वान कुमारजीव और उनकी यात्राएँ
संजय कुमार माथुर

पृष्ठ क्र. 7

कालिदास की कृतियों में सामाजिक जीवन
नयन कुमार मिश्र

पृष्ठ क्र. 8

अनादि देव शिव और उनके विभिन्न स्वरूप
मिथिलेश यादव

भ्रमण वृत्तांतों में सांस्कृतिक इतिहास

ऋतु मिश्र

साहित्यिक तथा ऐतिहासिक ग्रन्थों और पुरातात्विक सामग्री के अतिरिक्त भारत के सांस्कृतिक इतिहास पर प्रकाश डालने वाली अन्य महत्वपूर्ण सामग्री उन विदेशी यात्रियों के भ्रमण–वृत्तान्तों के रूप में भी सुरक्षित हैं, जिन्होंने आँखों देखी परिस्थितियों के आधार पर अपने अनुभवों तथा भारतीयों द्वारा मौखिक रूप में सुरक्षित घटनाओं का विश्लेषण कर उन्हें अपनी लेखनी में उतारा है। भारतवर्ष में भारत के सांस्कृतिक इतिहास की पृष्ठभूमि प्राचीनकाल से ही अनेक प्रकार के आश्चर्यजनक आचार–व्यवहार की परम्पराओं और रीति–नीतियों एवं विचित्रताओं की जिज्ञासा से अनेक देशों के लोग समय–समय पर यहाँ आये। देश के विभिन्न स्थलों का भ्रमण कर यहाँ के जन–जीवन में उन्हें जो उपादेय तथा ग्राह्य अनुभव हुआ उसको उन्होंने लिपिबद्ध किया। इस प्रकार विदेशियों के ये वृत्तान्त तत्कालीन भारत के सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक जीवन की यथार्थताओं और परम्पराओं का ज्ञान प्राप्त कराने में आधुनिक इतिहासकारों के प्रेरणास्रोत बने। इस प्रकार भारत आने वाले पर्यटक विद्वान् यूनान, रोम, चीन, तिब्बत और अरब आदि विभिन्न देशों से सम्बद्ध थे। इन विद्वानों द्वारा संग्रहीत भारतीय ज्ञान–सम्बन्धी कुछ तथ्य तो उनकी कृतियों के साथ ही अतीत को भेंट हो गये, किन्तु जो सुरक्षित रह पाये हैं, उनका अनेक दृष्टियों से बड़ा महत्व है। इस सामग्री का अनुशीलन करने पर विदित होता है कि भारत के साथ यूनान और चीन के पारस्परिक सम्बन्ध बड़े घनिष्ठ तथा दीर्घकालीन रहे हैं। इन दोनों देशों के यात्री यद्यपि विभिन्न उद्देश्यों से भारत आये, किन्तु उनमें से कुछ के ही संस्मरण–अनुभव उल्लेखनीय हैं।

प्राचीनकाल में जिन अनेक यूनानी पर्यटकों ने भारत भूमि का भ्रमण किया, उनमें से स्काइलैक्स का नाम अग्रणी है। यह यूनानी फारस के शासक दारा प्रथम का सैनिक था। दारा ने उसे प्रागैतिहासिक सिन्धु घाटी के सम्बन्ध में पता लगाने के लिए भारत भेजा था। उसके परवर्ती लेखक उसकी खोजों के जो तथ्य सुरक्षित रख पाये हैं, उनसे सिन्धु घाटी के सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। उसके विवरणों के आधार पर दूसरे यूनानी लेखक हिकेटिअस मिलेटस (549–496 ई.पू.) ने सिन्धु घाटी की कुछ भौगोलिक स्थितियों के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। किन्तु इन यूनानियों की खोजों के जो उद्धरण अन्य ग्रन्थों में देखने को मिलते हैं उनसे स्पष्टतः पता चलता है कि वे भारत के प्राचीन इतिहास की कोई विशेष जानकारी देने में अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हुए। प्राचीन भारत के सम्बन्ध में सर्वप्रथम महत्वपूर्ण नयी जानकारी देने का श्रेय तीसरे यूनानी इतिहासकार हेरोदोतस (484–425 ई.पू.) को है। उसने उत्तर–पश्चिम स्थित सीमाप्रान्त (भारत) और हरबमी (ईरान) के साम्राज्यों से राजनीतिक सम्पर्क स्थापित कर वहाँ की जातियों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये। किन्तु उसके ये ऐतिहासिक वृत्त उसके द्वारा प्रत्यक्षानुभूत न होकर इतरेतर साधनों पर अवलम्बित हैं, जिससे उनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। इस सन्दर्भ में यूनान के प्राचीन इतिहासकार केसिअस (416–398 ई.पू.) का नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि उसने प्राचीन भारत के सम्बन्ध में अधिकाधिक और प्रामाणिक सूचनाएँ देने का यथाशाध्य प्रयत्न किया है। यह फारस के राजा अर्टाने रेक्सस मेमन की राजसभा का राजवैद्य था। इस इतिहास–बुद्धि व्यक्ति ने फारस आये भारतीयों और भारत से लौटे फारसी व्यापारियों से सम्पर्क स्थापित कर उनसे भारत के विषय में बहुविध जानकारी प्राप्त की थी। भारत–सम्बन्धी जिन तथ्यों को पुस्तक रूप में उसने एकत्र किया उसका नाम इण्डिका रखा। यद्यपि उसके विवरण परानुभव–जन्य थे और इसलिए उनकी सत्यता सर्वथा असन्दिग्ध नहीं थी। तथापि भारत के इतिहास को पुस्तकबद्ध करने वाले विदेशियों में उसका स्थान अविस्मरणीय है। प्राचीन भारत पर अपेक्षया विस्तृत जानकारी देने वाली उसकी उक्त पुस्तक सम्प्रति उपलब्ध नहीं है, किन्तु अन्य पुस्तकों में उसके उद्धरण

मात्र देखने को मिलते हैं। उसने ईरान पर भी एक इतिहास ग्रन्थ पर्शिका के नाम से लिखा था। प्राचीन भारत की प्रामाणिक तथा विस्तृत इतिहास–सामग्री के स्रोत उन इतिहासकार विद्वानों के उपलब्ध वृत्तान्त हैं, जिन्हें महान् विजेता सिकन्दर (400 ई.पू.) अपने साथ भारत लाया था। जिन मार्गों से होकर सिकन्दर ने भारत में प्रवेश किया और जिस कौशल तथा पराक्रम से उसने अपने आक्रमणों को सफल बनाया उसका सविस्तार वर्णन उसके सैनिक पदों पर नियुक्त कुछ विद्वान व्यक्तियों ने किया। यदि उन्होंने अपने प्रत्यक्ष दृष्ट अनुभवों को लिपिबद्ध न किया होता तो सिकन्दर के भारत–आक्रमण की जानकारी देने के लिए अन्य कोई साधन नहीं थे। यद्यपि पूर्ववर्ती इतिहासकारों की मूल कृतियों की भाँति सिकन्दर के इन सहयोगी लेखकों के क्रमबद्ध वृत्तान्त विलुप्त हो गये, किन्तु परवर्ती इतिहासकारों स्ट्रैबो, प्लिनी, एरियन और प्लूतार्थ के ग्रन्थों में उनके उद्धरण आज भी सुरक्षित है।

सिकन्दर के साथ आये इन तीन लेखकों के नाम थे निआकस, एरिस्टीब्यूलस और ओनेसिक्रिटस। निआकस के भारत–विषयक वृत्तान्तों के उद्धरण स्ट्रैबो और एरियन के ग्रन्थों में उद्धृत हैं। सिकन्दर के जहाजी बेड़े का यह एडमिरल था। एरिस्टीव्यूलस ने सिकन्दर के युद्धों पर एक पुस्तक लिखी थी, एरियन और प्लूतार्थ ने उसके बहुत–से विवरणों को सुरक्षित रखा है। इसी प्रकार जहाजी बेड़े के पाइलट ओनेसिक्रिटस ने अपने अनुभवों पर सिकन्दर की जीवनी लिखी थी। उसके वृत्तान्तों में यद्यपि अतिरंजना, एकांगिता तथा सुनी–सुनायी बातों की अधिकता है, फिर भी उनका अपना महत्व है। सिकन्दर के बाद भारत आने वाले विद्वान इतिहासकारों एवं खोजियों में मेगास्थनीज का नाम प्रमुख है। वह प्रसिद्ध यूनानी सीरिया के सम्राट् सेल्यूकस का राजदूत था और मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के समय (321–297 ई.पू.) भारत आया था।

भारत के अनेक स्थलों का भ्रमण और यहाँ की परम्पराओं का अध्ययन कर उसने भारत के तत्कालीन जन–जीवन तथा उसकी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विरासत पर इण्डिका नाम से एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी थी। जो कि सम्प्रति मूल रूप में उपलब्ध नहीं है, किन्तु उसके लम्बे अवतरण एरियन, स्ट्रैबो तथा जस्टिन आदि इतिहासकारों की पुस्तकों में सुरक्षित है। डॉ. स्वानवेक ने उस पुस्तक के विभिन्न बिखरे हुए विवरणों को एकत्र कर उन्हें 1846 ई. में प्रकाशित किया। इस संग्रह का मैक क्रिण्डल ने 1891 ई. में अंग्रेजी अनुवाद किया। इस अनुवाद के माध्यम से मेगास्थनीज की पुस्तक के महत्व का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

भारत के सम्बन्ध में प्राचीन ऐतिहासिक जानकारी देने वाले यूनानी विद्वानों में पैट्रोक्लीज (281–261 ई.पू.) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यूनानी सम्राट सेल्यूकस और एण्टीआकस प्रथम के समय वह किसी पूर्वी प्रान्त का पदाधिकारी था। अपने पूर्वी देशों के इतिहास में उसने भारत पर प्रकाश डाला है। उसके परवर्ती इतिहासज्ञ एवं भूगोलवेत्ता विद्वान एरैस्थोनीज (276–194 ई.पू.) और स्ट्रैबो ने पैट्रोक्लीज के विवरणों की बड़ी प्रशंसा की है। मेगास्थनीज के बाद, मौर्य चन्द्रगुप्त के पुत्र मौर्य बिन्दुसार (297–272 ई.पू.) के शासनकाल में यूनानी सम्राट द्वारा प्रेषित राजदूत डोमेकस और उसके बाद डायोनीसिअस भारत आया। उन्होंने भी भारत–विषयक अपने अनुभवों को लेखबद्ध किया, जो कि मूल रूप में उपलब्ध नहीं है किन्तु स्ट्रैबो ने उनके कुछ उद्धरण उद्धृत किये हैं। स्ट्रैबो ने उक्त तीनों यूनानी विद्वान राजदूतों के भारत विषयक विवरणों की आलोचना की है और उनकी प्रामाणिकता पर अविश्वास करते हुए उन्हें भ्रान्त तथा अविश्वसनीय कहा है। यद्यपि मेगास्थनीज के भारत विषयक कुछ अनुमान नितान्त असत्य तथा कल्पित हैं, फिर भी तत्कालीन जन–जीवन के रहन–सहन, रीति–रिवाज और धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि उदात्त परम्पराओं का जिस निष्पक्षता से उसने उल्लेख किया है। उसका अपना विशेष महत्व है और भारत के प्राचीन इतिहास की जानकारी के लिए वे एकमात्र साधन हैं। भारत और यूनान के इन निरन्तर बढ़ते हुए घनिष्ठ सम्बन्धों का अनेक दृष्टियों से बड़ा महत्व है। दोनों देशों के इन प्राचीन सम्बन्धों के परिणामस्वरूप न केवल इतिहास तथा संस्कृति के क्षेत्र में, अपितु कला के क्षेत्र में भी सामंजस्य स्थापित हुआ। अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के उल्लेखों से प्रभावित होकर ईसा की प्रथम शती में प्रसिद्ध यूनानी विद्वान् स्ट्रैबों ने विभिन्न देशों का भ्रमण कर वहाँ की भौगोलिक स्थितियों पर सर्वप्रथम महत्वपूर्ण प्रकाश डाला। मूलतः भौगोलिक स्थितियों का चित्रण करने के साथ–साथ स्ट्रैबो ने तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक भारतीय संस्कृति और कला तथा राजनीतिक विषयों पर भी प्रकाश डाला।

प्राचीन भारत में कृषि व अन्य व्यवसाय

अनिरुद्ध कुमार वर्मा

भारत के प्राचीन इतिहास में इस युग का महत्व कम था। मौर्य युग में लगभग सम्पूर्ण भारत में एक अखण्ड राज्य स्थापित हो गया था, पर अशोक के पश्चात् बृहद्रथ के काल में सैनिक क्रांति के कारण भारत की बागडोर एक सेनानायक के हाथों में आ गयी। इस क्रांति का प्रभाव धार्मिक एवं राजनैतिक गतिविधियों पर पड़ा पर आर्थिक जन जीवन पूर्व कालों की तरह ही रहा।

पतंजलि के महाभाष्य से ज्ञात होता है कि उस समय कृषि भारत का मूल व्यवसाय था। उनके महाभाष्य में जो उदाहरण दिये गये हैं, उनमें अधिकतर कृषि व जनजीवन सम्बद्ध अन्य व्यवसायों के परिचायक है। हल व बैल कृषि के मुख्य साधन थे। हल से जोती जाने वाली भूमि 'हल्पा' कहीं जाती थी। इस काल में खेत को तीन बार जोतकर तैयार किया जाता था, तत्पश्चात बीज वपन की क्रिया सम्पन्न की जाती थी। बीज वपन की प्रक्रिया पुरानी थी अर्थात् बीज या तो छिटका कर बोया जाता था अथवा बीजों को हल के पीछे–पीछे कूड़ में बोया जाता था। इस युग में मिश्रित फसल अर्थात् दो फसलों को एक साथ बो दिया जाता था यथा उड़द और तिल। इस युग में उत्पादन क्षमता बढ़ाने हेतु खाद व पानी की सहायता राज्य से समय–समय पर मिलती थी। इस काल में सिंचाई नहर, कुओं, तालाबों तथ रहट द्वारा की जाती थी। उपज प्रायः दो प्रकार की होती थी। जुते हुये खेत में उत्पन्न अन्न को कृष्ट और बिना जुटी हुई भूमि से उत्पन्न अन्न को अकृष्ट पच्च कहते थे। इस काल की प्रमुख फसलें ब्रीहि, शालि, यव, पावानी, गोधूम, अणु, माष, मृदङ्ग (मूंग), तिल, मधूक, गर्मूत (मटर), उपा (अलसी), अलाबू (लौकी), गेवधुका (चना या मटर), मंगा (सन), कार्यास (कपास), इक्षु (गन्ना), मूलक (मूली), कुस्तुम्बुर (धनिया), हरिद्रा (हल्दी), द्राक्षा (अंगूर), पिप्पली (पीपर), श्रृंगवेर (अदरक), केसर, नलद आदि थीं। कृषि व्यवस्था के साथ–साथ पशुपालन व्यवसाय भी उच्च कोटि का था। गाय व बैल तो सर्वाधिक महत्वपूर्ण पशु थे। महाभाष्य से ज्ञात होता है कि एक–एक परिवार के पास सैंकड़ों व सहस्रों गायें पाली रहती थीं। अश्व, खच्चर, वृश तथा उच्च वर्ग के लोग हाथी भी पालते थे। समाज में बहुत से लोग शिल्प कला से जीवन–यापन करते थे इनमें मुख्य हैं– गायक, वादक, पाणिध, ताडध, कुलाल (कुम्भकार), तक्षा (बढ़ई), रथकर (बढ़ई का ही एक वर्ग), धनुष्कार, उपस्कार (लोहे की वस्तुएँ बनाने वाले), कर्मार (लुहार और ठठेरे), स्वर्णकार, खनक, तन्तुवाय (वस्त्रों के निर्माता), चर्मकासर, राजगीर (मिस्त्री) आदि। इस युग में व्यापार की स्थिति काफी अच्छी थी। व्यापार में क्रय–विक्रय होता था, अतः व्यापारी क्रय–विक्रयक कहलाते थे। इन वाणिज्यों (व्यापारियों) की श्रेणियों भी थी, जो उनके वाणिज्य स्थान या वाणिज्य वस्तु के नाम पर थी। महाभाष्य में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का भी उल्लेख है। व्यापार संघों को संस्थान कहते थे और उनके सदस्यों को सांस्थानिक कहते थे। क्रय–विक्रय का मूल्य निर्धारण सिक्कों के आधार पर होता था अथवा वस्तुओं का विनिमय किया जाता था, माश (ताम्रमुद्रा), कार्षापण (रजत मुद्रा), निष्क (स्वर्ण मुद्रा) से खरीदी वस्तुओं के अनेक उदाहरण मिलते हैं। खेतों के विधिवत बन जाने के बाद बीजों की बुवाई की जाती थी। बीजों की रीतियाँ वहीं पुरानी थी। अर्थात् हल के पीछे–पीछे कूड़ों में बीजों को बोया जाता था, या बीजों को छिटक कर बोया जाता था। सिंचाई के लिए नदी, सरोवर, कुँए आदि इस काल के मुख्य साधन थे। नदियों पर बाँध बनाकर भी उनसे जल प्राप्त किया जाता था। यदा–कदा नदियों में जल का वेग बढ़ जाने पर बाँध टूट जाते थे। रूद्रदामन प्रथम (150) के गिरिनार अभिलेख से पता चलता है कि ई.पू. चतुर्थ शताब्दी में सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के राष्ट्रीय वैश्य पुष्पगुप्त द्वारा गिरिनार की पहाड़ियों से निकलने वाली सुवर्णसिकता तथा पलाशिनी आदि नदियों के जल प्रवाह को रोकने के लिए विशाल बाँध का निर्माण करवाया गया था। इसी प्रांत में नियुक्त सम्राट अशोक महान् के प्रान्तीय शासक पवनराज तुषास्य ने उसमें नहरें निकलवायी थीं, किंतु महाक्षत्रप रूद्रदामन प्रथम के शासन काल में घोर वर्षा और तूफगान से वह बांध जर्जर हो गया था, जिसका पुननिर्माण प्रचुर धनराशि व्यय करके स्वयं रूद्रदामन ने करवाया था। कृष्ट तथा अपकृष्ट दो प्रकार के अन्न इस युग में भी थे। कृष्ट अन्नों में चावल का अत्याधिक महत्व था, जिसे (शालि) कहा जाता था। चावल के अतिरिक्त इस युग में सर्वम (सरसों), कुल्माष (कुल्थी), तिल, यव (जी), गोधूम (गेहूँ), मसूर, मुदग (मूंग), माष (उड़द) आदि अनाज भी पैदा होते थे। अनेक प्रकार की सब्जियाँ (हरित कलापक) भी उगाई जाती थीं। गन्ने को भी लोग लगाते थे तथा उनसे गुड़ व शक्कर बनाई जाती थी। इस काल में

अनेक वन व उपवन भी होते थे यथा – पाटलिपुत्र के पास स्थित अशोका राम, आम्रवन (राजगृह में स्थित जीवक का उपवन), जेतवन (कौशल की राजधानी श्रावस्ती में राजकुमार जेत का प्रसिद्ध उपवन), आम्रपाली–उपवन (वैशाली की एक सुप्रसिद्ध गणिका का उपवन), न्यग्रोधवन (कपिलवस्तु में स्थित वट वृक्षों का वन), हिमालय वन (यह वन हाथियों के लिए प्रसिद्ध था) आदि। वनों के अतिरिक्त किसान छोटे–छोटे बाग–बगीचे भी लगाते थे। पशुपालन में बैल इस युग का मुख्य पशु था. जो खेती के काम आता था तथा हल, गाडी व रथ चलाता था। गाय प्रायः हृष्ट–पुष्ट व अधिक दूध देने वाली थी। गाय और बेलों के अतिरिक्त महषि और महिषी, अश्य, खर ऊँट, मेढ़ (भेड़) आदि भी अनेक पशु थे जो लोग पालते थे। यद्यपि पशु पालन का कार्य कृषकजन ही करते थे, जो लोग पालते थे। यद्यपि पशु पालन का कार्य कृषकजन ही करते थे पर इस युग में यह कार्य मुख्यतया गोप (वर्ग–विशेषण) के लोग ही करते थे। संस्कृत और बौद्ध ग्रंथों में अट्ठा रह व्यवसायिक वर्ग की श्रेणियों का उल्लेख है. जिनमें मुख्य श्रेणियाँ हैं कोलिक (वस्त्रों को बनाने वाले जुलाहे), स्वर्णकार, कासाकार (कॉस के पात्र बनाने वाले), कर्णक (लुहार), वर्धकी (बढई), कुम्भकार, तेलपिशक (तेली), बसकार (बाँस का कार्य करने वाले), मालाकार (माली), गांधिक (सुगंधित तेल तथा इत्रादि बनाने वाले), धसक (मछुए), सार्थवाह (व्यापार करने वाले), नापित (नाई), रजक (धोबी), लौहकार (अस्त्र–शस्त्र के निर्माता) इत्यादि। इस युग में व्यापार की स्थिति काफी अच्छी थी। बुद्धचरितम् से ज्ञात होता है कि इस युग की सुप्रसिद्ध नगरी कपिलवस्तु में वणिकों की बड़ी ही विशाल दुकानें थी। जिस समय कपिलवस्तु में तथागत भगवान बुद्ध वणिकों की गली से गुजरे थे, उस समय उनके दर्शन के लिये बड़े–बड़े दुकानदार अपनी–अपनी दुकानों से बाहर निकल आये थे, उनमें से कुछ दर्शन व प्रणाम कर शीघ्र ही लौट गये थे। इन दुकानदारों में कुछ सार्थवाह वणिक थे, जो दूर देशों में व्यापार करने के लिऐ जाते थे। उनके रास्तें में बीहड़ जंगल व रेगिस्तान पड़ते थे, अतएव वणिक सार्थ बनाकर ही प्रायः चलते थे, जो सार्थवाह कहलाता था। वह काफिलों का ठगों तथा लुटेरों से रक्षा करता और शिविर का भी प्रबंध करता था। अनेक ऐसे तात्कालिक पुरातत्व से सम्बद्ध प्रमाण है, जिनके आधार पर व्यापारियों की दानशीलता व उनकी व्यापारिक वस्तुओं पर प्रकाश पड़ता है।

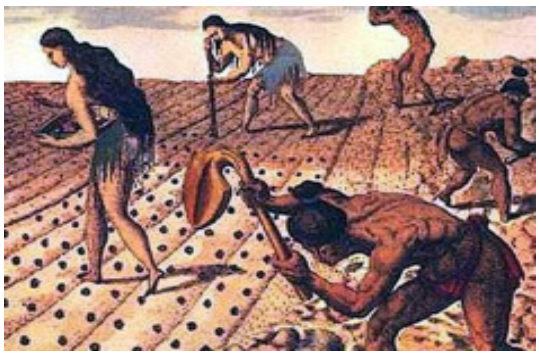

व्यापार में विनिमय प्रणाली ही इस युग में कार्य कर रही थी। किंतु इस युग में निश्चित रूप से सोने चाँदी व ताँबे के सिक्के ही चल रहे थे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सोने की ही मुद्राए चलती थीं। सोने का सिक्का सुवर्ण, चाँदी के 35 कार्षापण सिक्कों के बराबर होता था। एक कार्षापण का वजन 146.4 ग्रेन था। इसी काल में मालव, योधेध, अर्जनायन जातियों के गणतंत्रों में भी चाँदी और ताँबे के सिक्के चला रहे थे। इस काल में रोम साम्राज्य के सिक्के प्राप्त हुए है। जो सम्भवतः भारतीय माल के बदले में रोम साम्राज्य की ओर से भारत को प्राप्त हुए थे, ये सिक्के भारतीय सिक्कों की तौल के बराबर में है। इनकी तौल 124 ग्रेन होती थी। विम कदफिसेस के द्वारा चलाया गया एक चाँदी का सिक्का भी प्राप्त हुआ है, जो ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित है। तौल व माप में वही पुरानी नियमावली थी। वैसे मथुरा के ब्राह्मी अभिलेख में आढ़क प्रस्थ तथा घटक नामक नाप तौल के शब्द दिये गये हैं।

सर मोनियर विलियम्स के अनुसार आड़क तौल में 1/4 कार के बराबर या 4066 माशा के बराबर था। अंग्रेजी तौल के अनुसार 6 पौंड 2 औंस के बराबर यह तौल थी। प्रस्थ 30 पल या 1/4 आड़क का होता था और घटक एक द्रोण या 4 आढ़क के बराबर होता था। इस युग के व्यापार से संबंधित आर.सी. मजुमदार के अनुसार इस युग में वस्तुओं को निर्यात स्थान से बाहर भेजने का प्रबंध था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जलयानों द्वारा होता था। इस काल में निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में सुगंधित द्रव्य, इत्र, औषधियों के लिये जड़ी बूटियाँ रंग, मोती, जवाहरात, हीरे नीलमणि, लोहा, स्टील (इस्पात), ताँबा, चंदन, पशुओं की खालें, सूती कपड़े, नील, हाथी दाँत तथा शीश आदि मुख्य थीं। इस काल के प्रमुख व्यावसायिक नगर मथुरा, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कौशाम्बी, वाराणसी, नासिक, चुनार, धनकट, करहाटक थे। इनका संबंध एक दूसरे के साथ सड़कों के द्वारा जुड़ा हुआ था। भड़ौच, कल्याण, शूर्माख या सुपारा इस युग के प्रसिद्ध बन्दरगाह थे, जिनसे भारतवर्ष का विदेशी व्यापार होता था। गुप्तकालीन साहित्य का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि तत्कालीन आर्थिक जीवन कृषि प्रधान था। इस युग में राज्य की ओर से यह प्रयास रहता था कि अधिक से अधिक भूमि कृषि योग्य बनायी जाय। राज्य लोगों को भूमिछिद्र–धर्म और नीविधर्म के अनुसार भूमि दे रहा था। अग्रहार के रूप में ब्राह्मणों को भी भूमि प्राप्त हो रही थी। इस प्रकार क्रमशः भूमि प्राप्त करने और भू–सम्पत्ति बढ़ाने की प्रवृत्ति लोगों में बढ़ने लगी थी, जिसके फलस्वरूप भूमि संबंधी वाद–विवाद बढ़ गये थे। भूमि क्रय–विक्रय से बढ़ते विवादों को देखते हुए भूमि–वितरण व्यवस्था काफी कठिन कर दी गयी थी। भू–वितरण ग्राम परिषद् की स्वीकृति और माध्यम से होता था। भू–सम्पत्ति का हस्तांतरण ग्राम के सहनिवासियों की सहमति अथवा ग्राम परिषद् की अनुमति से होता था। भू–हस्तांतरण ग्राम महत्तरों की उपस्थिति में किया जाता था और वह उसका सीमा रेखांकन कर दिया करता था।

भारतीय विद्वान कुमारजीव और उनकी यात्राएँ

संजय कुमार माथुर

भारत से विदेश जाकर जिन विद्वानों ने भारतीय धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति का प्रचार ही नहीं किया बल्कि स्थापना की, उनमें कुमारजीव का नाम सबसे आगे है। भारत के सम्बन्ध चीन से बहुत प्राचीनकाल से चले आ रहे थे। यों तो लंका, बर्मा, जापान, सिंगापुर हिन्देशिया, मलाया आदि अनेक देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार किया गया किन्तु चीन एक ऐसा देश रहा है जिसमें केवल अनुयायी के रूप में ही बौद्ध धर्म ग्रहण नहीं किया गया बल्कि उन दिनों वह एक प्रकार से बौद्ध धर्म का प्रामाणिक केन्द्र बन गया था। इस प्रकार चीन में बौद्ध धर्म के जागरण पूर्ण आन्दोलन का प्रमुख श्रेय भारतीय विद्वानों को ही है और उनमें भी कुमारजीव का स्थान सर्वोपरि है। कुमारजीव का जन्म ईसा की चौथी शताब्दी में हुआ था। इनके पिता का नाम कुमारायण और माता का नाम देवी था। कुमारायण एक रियासत के दीवान पद पर कार्य करते थे। दीवान पद पर कार्य करते हुये उन्होंने शीघ्र ही धन के साथ यश भी प्राप्त कर लिया। सब कुछ होने पर भी कुमारायण को अपने जीवन क्रम से सन्तोष न था। दीवान के पद पर वे अपनी योग्यता एवं विद्वता का समुचित उपयोग न कर पाते थे। वे अपने वैयक्तिक सुख की अपेक्षा दूसरों को सुखी बनाने में अधिक प्रसन्नता एवं सन्तोष अनुभव करते थे। पर दीवान के एक प्रतिबन्धित तथा उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर रहते हुये वे जन सेवा का कोई काम न कर पाते थे। उन्हें अपने स्वामी राजा की इच्छानुसार जनता से व्यवहार करना पड़ता था जो कि प्रायः शोषण मूलक ही होता था। कुमारजीव के विद्वान् पिता कुमारायण की आत्मा अधिक समय तक यह स्वीकार न कर सकी वे इसी प्रकार करते हुए दुर्लभ मानव जीवन को समाप्त कर दें। अतएव उन्होंने जन साधारण में ज्ञान का प्रकाश फैलाने के लिए अन्तःप्रेरणा से दीवानी का पद छोड़ दिया।

नौकरी छोड़कर कुमारायण यात्रा साधनों के अभाव का कष्ट सहते हुए भी अनेक पर्वत तथा वनों को पार करते हुए मध्य–एशिया में तारिम नदी के तट पर बसे, कूची नगर चले गये। फैलाने को तो ज्ञान को आलोक अपने देश के भी अनेक विस्तृत कोनों में भी फैलाया जा सकता था किन्तु कुमारायण ने विदेश में ही अपना ज्ञान फैलाना इसलिए ठीक समझा कि उस समय भारत में विद्वानों की कमी नहीं थी। अनेक लोग देश की सेवा करने में लगे हुये थे। कुमारायण ने विदेश में भारत के सन्देश ले जाकर देश की अन्तर्राष्ट्रीय कीर्ति बढ़ाना अधिक श्रेयस्कर समझा। कूची में कुमारायण एक बौद्ध बिहार में रह कर प्रचार करने लगे। धीरे–धीरे उनकी कीर्ति इतनी फैल गई कि कूची के राजा ने उन्हें अनुरोधपूर्वक अपना राजगुरु बना लिया। कुछ समय बाद कूची राजवंश की 'देवी' नामक एक कन्या से उनका विवाह हो गया, जिसके गर्भ से उनके विश्व विख्यात पुत्र कुमारजीव का जन्म हुआ। कुमारजीव के जन्म के कुछ समय बाद ही उनका जन्म हुआ पिता की मृत्यु हो गई और पति का प्रचार कार्य पूरा करने के लिये कुमारजीव की माता बौद्ध भिक्षुणी बन गई। परमात्मा जिसे जीवन में कोई विशेष अभ्यदय परमात्मा जिसे जीवन में कोई विशेष अभ्युदय अनुग्रह कराना चाहता है, उसकी बहुत–सी सुविधाओं को समाप्त कर दिया करता है। इस प्रकार जीवन में कठिनाइयों के आने से मनुष्य में कर्मठता का गुण जाग उठता है, वह आलस्य एवं प्रमाद से दूर रह कर परिश्रम करता और भगवद् भय से अधिक से अधिक ईमानदार तथा सत्य परायण रहने का प्रयत्न करता है। असुविधाओं तथा कठिनाइयों में पड़ जाने से मनुष्य का सारा जीवन परिश्रम एवं पुरुषार्थ पर निर्भर हो जाता है, क्योंकि यदि वह ऐसा न करे तो जीवित नहीं रह सकता। अधिकाधिक परिश्रम का स्वभाव बन जाने से उसमें कर्मवीरता का वह गुण आ जाता है, उन्नति और

सफलताएँ जिसकी अनुगामिनी छाया में ही होती हैं। इसके विपरीत जो अधिक सुविधा एवं सम्पन्नता की परिस्थिति में रहता है वह स्वभावतः सुकुमार तथा विलासी बन जाता है, प्रमाद और आलस्य उसके मानसिक मित्र बन जाते हैं, जिससे निकम्मा हो कर सामान्य कामों के योग्य भी नहीं रहता फिर ऊँचे और बड़े कामों की बात ही क्या? इसके साथ ही जो व्यक्ति असुविधा एवं कठिनाई के स्वर्ण अवसर को भाग्य का अभिशाप मानकर रोते झींकते हुये निराशा अथवा निरुत्साह के वशीभूत हो जाते हैं उनका जीवन तो निकम्मे आलसियों से भी गया गुजरा हो जाता है और वह न केवल अपने पर ही बल्कि समाज पर एक भयानक भार बन कर जीवन काटते हैं। मनुष्यों को चाहिए कि वह कठिनाइयों को भगवान की कृपा और अभ्युदय का सन्देश समझ कर अपनाए और उनसे प्रेरणा लेकर जीवन को उन्नत एवं उदात्त बनाये।

बौद्ध भिक्षुणी हो जाने पर भी कुमारजीव को बुद्धिमती माता यह न भूली कि उनके सम्मुख कुमारजीव है, जिसे उनको हर प्रकार से योग्य बनाकर समाज एवं संसार की सेवा के लिए समर्पित कर देना है। निदान पुत्र की शिक्षा के लिये कुमारजीव की माता उन्हें कश्मीर ले गई। कश्मीर उस समय विद्या का बहुत बड़ा केन्द्र माना जाता था। कश्मीर पहुँच कर 'देवी' ने अपने पुत्र कुमारजीव को बन्धुदत्त नामक एक बहुत बड़े कश्मीरी विद्वान की संरक्षता में विद्याध्ययन के लिये छोड़ दिया। बन्धुदत्त जितने बड़े विद्वान् थे, उतने ही शिष्य बनाने में कृपण थे। उन्होंने अपने जीवन में बहुत ही कम शिष्य बनाये और जिनको बनाया उनको फिर पराकाष्ठा का पण्डित ही बना दिया। इसलिये वे शिष्य बनने के इच्छुक व्यक्तियों की कड़ी परीक्षा लेकर पहले परख लिया करते थे कि इसमें बोये हुये विद्या के बीज अंकुरित भी होंगे अथवा नहीं! निरर्थक एवं लंठ शिष्यों के साथ सिर मारने के लिये फिजूल समय उनके पास न था।

निदान अपने नियमानुसार उन्होंने बालक कुमारजीव को भी नहीं छोड़ा और उसके चरित्र, गुण, कर्म, स्वभाव में जमे बीजाँकुरों को कड़ाई से जाँचा। जब बालक गुरु की कसौटी पर खरा उतरा तो उसकी शिक्षा दीक्षा में पूरी तत्परता दिखाने में कोई कसर न रखी। कठोर गुरु जब सुयोग्यताओं से प्रसन्न होता है तब शिष्य को पढ़ाता क्या, वास्तव में ज्ञान लोक के रूप में स्वयं उसकी आत्मा में बैठ जाता है। पितृहीन बालक कुमारजीव के भाग्य खुल गये। कुछ ही समय में बन्धुदत्त ने उसको संस्कृत भाषा तथा बौद्ध दर्शन का प्रकाण्ड पण्डित बना किया। कश्मीर से वापस जाकर कुमारजीव कश्मीर पहुँचे और बुद्धियश नामक एक विद्वान् के साथ मिलकर बौद्ध दर्शन को पुनः दोहराया और ज्ञान को पूर्ण रूपेण असंदिग्ध बनाकर अपने जन्म स्थान कूची चले आये! यद्यपि कश्मीर में ही कुमारजीव के पाँडित्य की ख्याति इतनी फैल गई थी कि तुर्किस्तान से आ आकर बहुत से लोग उनके शिष्य बनकर बौद्ध धर्म की दीक्षा लेने लगे थे। किन्तु वहाँ से चले आने में उनके दो उद्देश्य थे। एक तो यह कि कश्मीर में गुरु के सम्मुख अपनी प्रतिष्ठा नहीं कराना चाहते थे और दूसरे वे अनेक स्थानों पर भ्रमण करते हुए कूची जा कर अपने पिता का ध्येय पूरा करना चाहते थे। किन्तु कूची में वे अपना उद्देश्य प्रारम्भ भी न कर पाये थे कि कूची नरेश और चीन सम्राट में लड़ाई हो गई जिसमें कूची का पतन हो गया। फलस्वरूप कूची का राज्य चीन साम्राज्य में मिला लिया गया। चीनी जिन बहुत से लोगों को बन्दी बना कर ले गये उनमें कुमारजीव भी थे। किन्तु उनके प्रकांड पाँडित्य तथा चीन में फैली हुई उनकी कीर्ति ने उन्हें प्राण दण्ड से बचा लिया! किन्तु फिर भी उन्हें 'लिहाँग चो' प्रदेश में गवर्नर की देख रेख में अठारह वर्ष के लिए नजरबन्द कर दिया गया। कुछ समय बाद जब उनकी लोकप्रियता के दबाव से उन पर प्रतिबन्ध ा उठा लिया गया तब उन्होंने अपना प्रचार कार्य प्रारम्भ कर दिया। कुमारजीव की नई व्याख्याओं और नए दृष्टिकोण से बौद्धधर्म में एक नवीनता आ गई। अभी तक बौद्धधर्म के जिन ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में हुआ था वह न तो सरल था, न सुन्दर और समीचीन! निदान कुमारजीव ने अपने हाथ में बौद्ध ग्रन्थों का ठीक–ठीक अनुवाद करने का काम अपने हाथ में लिया! इसे पूरा करने के लिये उन्होंने चीनी भाषा का अध्ययन प्रारम्भ किया और शीघ्र ही उस पर अधिकार प्राप्त कर लिया। उन्होंने महायान की उपशाखा 'सर्वास्त्वाद' के लगभग सौ ग्रन्थ चीनी भाषा में अनुवादित किये, जिनमें से 'विनय–पिटक', 'योगाचार भूमि शास्त्र', 'ब्रह्म जाल सूत्र', 'महाप्रज्ञा–पारिमिता–सूत्र', 'देश भूमि', 'विभाषा शास्त्र', 'सूत्रालंकार शास्त्र' विशेष महत्व के हैं। इसमें से 'महाप्रज्ञा, पारिमिता' सूत्र का अनुवाद तो उन्होंने तीन वर्ष के अविरत परिश्रम के साथ किया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने चीन में प्रचलित धर्म 'ताओ' की बुद्ध दर्शन के आलोक में व्याख्या की।

इतना अनुवाद कार्य करने के साथ ही उन्होंने भाषणों, प्रवचनों तथा विचार विनिमय के द्वारा बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय का धुआँधार प्रचार किया। उनके भाषण इतने ज्ञानपूर्ण एवं प्रभावशाली होते थे कि अच्छे– अच्छे विद्वान् उन्हें नत–मस्तक हो जाया करते थे। कुमारजीव के अनेक शिष्य सहयोगी तथा सहायक विद्वानों में से विमलाक्ष तथा पुण्यत्रात के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। इन दोनों ने अनुवाद कार्य में कुमारजीव को बहुत सहयोग दिया था। कुमारजीव ने चीन में भारतीय बौद्ध धर्म की शाखा महायान के सिद्धान्तों को प्रचार करने में अपना पूरा जीवन लगा दिया। जीवन में एक दिन के लिये भी बैठ कर उन्होंने अपनी व्यक्तिगत सुख सुविधाओं के विषय में नहीं सोचा। कूची की पराजय के समय गिरफ्तार होने पर उन्होंने न किसी प्रकार का भय माना और न शंका की। उन्हें अपनी उस विद्या पर अखण्ड विश्वास था जिसे कि उन्होंने जीवन के सारे सुख छोड़कर प्राप्त किया था। वे मानते थे कि उनकी विशाल विद्या, किसी भी दशा में मित्र की तरह उनकी सहायता करेगी और हुआ भी वही।

कालिदास की कृतियों में सामाजिक जीवन

नयन कुमार मिश्र

कालिदासयुगीन भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के परिचायक अनेक तथ्य उनकी रचनाओं में निहित है। ई.पू. दूसरी शती के लगभग मौर्यों की महान् परम्परा प्रायः क्षीण पड़ गयी थी। उसका उत्तराधिकार दक्षिण के आंध्र सातवाहनों ने उजागर किया हुआ था। किन्तु प्रतापी मौर्यों की क्षीणता के कारण मगध, पाटलिपुत्र और नथुरा आदि तत्कालीन ऐतिहासिक राजधानियों पर ग्रीकों का प्रभाव स्थापित होता जा रहा था। इस प्रकार के ग्रीक शासकों में देमित्रियस् (दिमित) और मेनांडर (मिलिन्द) के नाम प्रमुख है। धीरे–धीरे उनका प्रभाव पंजाब–सिन्ध और मध्य–पश्चिम तथा उत्तर भारत में भी व्याप्त हुआ। तत्कालीन विद्याकेन्द्र तक्षशिला, मगध तथा नालन्दा पर भी उनका अधिकार हुआ, जिसके परिणामस्वरूप आयुर्वेद तथा ज्योतिष आदि के विद्वानों पर ग्रीकों की परम्पराओं का प्रभाव प्रकाश में आने लगा। ज्ञान–विज्ञान के अतिरिक्त स्थापत्य, मूर्ति और चित्रकला के इन तीनों क्षेत्रों में भी ग्रीकों की शिल्प–संरचना के नये रूप प्रकाश में आये।

कालिदासकालीन भारत के सामाजिक जीवन का चित्रण करने वाली सामग्री उनके ग्रंथों में भरपूर रूप में विद्यमान है। भारतीय समाज–व्यवस्था का नियमन वर्णाश्रम धर्ती द्वारा होता आया है। कालिदास के पंचों में वर्ण और आश्रम दोनों की उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। यद्यपि रघुवंश में कालिदास ने सभी रघुवंशी राजाओं में आश्रम धर्म की अनिवार्यता को स्वीकार किया है, तथावि ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदासयुगीन समाज में उसमें कुछ शिथिलता आ गयी थी। ब्रह्मचर्याश्रम में अध्ययन तथा नियम की जो वैदिक परम्परा थी, उसमें विद्याध्ययन की श्रेष्ठता तो पूर्ववत बनी हुई थी। किन्तु नियम एवं व्रत की कट्टरता में कुछ शिथिलता आ गयी थी। इसी प्रकार यद्यपि राजा दिलीप जैसे गृहस्थ के आदर्श को चरितार्थ करने वाले गृहस्थ लोग कम थे, फिर भी गृहस्थाश्रम को सभी आश्रमों का आश्रम तब भी माना जाता था। वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमों की परम्परा भी उतनी नियमानुबद्ध नहीं थी। वर्णधर्म की परम्परा में स्थायित्व था। ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारों वर्षों की व्यवस्था को सारा समाज स्वीकार करता था। प्रत्येक वर्ण में धर्मशास्त्रानुसार संस्कारों का सम्पादन होता था। रघुवश के सभी राजा जातकर्म, नामकरण उपनयन आदि सोलह संस्कारों में दीक्षित थे। असवर्ण विवाहों को बुरा नहीं माना जाता था। प्राजापत्य और गान्धर्व विवाहों की अधिकता थी। गान्धर्व विवाह का उदाहरण अभिज्ञान शाकुन्तल है। कालिदास की सभी कृतियों में विशेष रूप से अभिज्ञान शाकुन्तल में गृहस्थ जीवन का अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन हुआ है। उसमें कन्या की विदाई के जिस मार्मिक पक्ष का वर्णन किया गया है उसके कारण यह नाटक विश्व की सर्वोच्च कृतियों में सहज ही स्थान पा गया है। भारतीय गृहस्थ के लिए कन्या का जन्म बड़ा ही क्लेशकारी रहा है। पिता के वात्सल्य, भाता की ममता, भाई–बहनों का प्रेम और सखी सहेलियों का साथ छोड़कर सदा के लिए जब उसे पराये घर में जाना होता है। तब उसकी वह स्थिति अत्यन्त ही करुणाजनक हुआ करती है। इस प्रसंग का चित्रण कालिदास ने बड़ी सूक्ष्मता से किया है। गृहस्थाश्रम में रहने वाले लोगों के लिए कन्या का वियोग असा तो होता ही है। किन्तु एक संसारत्यागी एवं संयमधनी तपस्वी का हृदय भी उससे द्रवित हुए बिना नहीं रहता। आज शकुन्तला पतिगृह को जा रही है। इस विचार से ही मेरा हृदय दुःख से भर गया है। कण्ठ गद्गद् हो रहा है। चिन्ता से दृष्टि जड़ हो गयी है। वनवासी होकर भी यदि में कन्या की विदाई से इतना व्याकुल हो सकता हूँ, तो उन गृहस्थों की क्या दशा होती होगी?

कालिदास ने वैदिक परम्परा के अनुसार स्त्रियों के कुलधर्म का बड़ी सतर्कता से अत्यन्त संवत रूप में वर्णन किया है। उन्होंने सामाजिक जीवन में स्त्रियों की स्वतन्त्रता का समर्थन किया है। वे सुशिक्षित हुआ करती थी और उन्हें धर्मानुराग के लिए इतिहास पुराण तथा कलानुराग के लिए ललित कलाओं (संगीत, नृत्य, गायन, चित्रकला) की शिक्षा दी जाती थी। उनके बिना गृहस्थ का कोई भी धार्मिक कृत्य सम्पन्न नहीं होता था। पति–वरण के लिए वे स्वतन्त्र थीं। यथा पार्वती ने शिव का वरण स्वयं किया। शकुन्तला ने दुष्यन्त का और इन्दुमती ने अज का। स्वयंवरों का आयोजन पतिवरण की स्वतन्त्रता का द्योतन करता है। समाज में स्त्रियों का सम्मानजनक स्थान था। वे घर की सर्वस्व हुआ करती थीं। सार्वजनिक क्रीड़ा, उत्सवों में भाग लेने के लिए उन्हें पूरी स्वतंत्रता प्राप्त थी। शील और मर्यादा आदि सद्गुणों का पालन करना उनके स्वभाव की विशेषता थी। ऐसा प्रतीत होता है कि आज की ही भाँति तब भी पारिवारिक सम्बन्धों के निर्वाह के प्रति सजगता बरती जाती थी। संयुक्त परिवारों का प्रचलन अधिक था। परिवार के पारस्परिक सम्बन्धों के निर्वाह का दायित्व प्रत्येक पारिवारिक पर होता था। परिवार संस्था का इस दृष्टि से भी महत्त्व था कि वही सामाजिक रचना का आधार थी। अतिथि सेवा गृहस्थ जीवन का सर्वोत्तम कर्तव्य था। पारिवारिक जीवन में शिष्टाचार का विशेष महत्व माना जाता था।

कालिदास के ग्रथों से तत्कालीन भारत की शिष्ट एवं समुन्नत संस्कृति का दिग्दर्शन हुआ है। सामाजिक जीवन के जो विभिन्न पारस्परिक सम्बन्ध हैं। उनके निर्वाह की विधियों का आदर्शमय निरूपण कालिदास की कृतियों में हुआ है। गुरु से शिष्य का आचरण किस प्रकार होना चाहिए, माता–पिता के प्रति पुत्र वहार कैसा होना चाहिए ऋषियों एवं त्यागी पुरुषों के समक्ष राजा का का व्यवहार किस विनयभाव से व्यवहार करना चाहिए।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

अनादि देव शिव और उनके विभिन्न स्वरूप

शिव एक महान् देवता है जिनकी उपासना अत्यधिक प्राचीनकाल से लेकर आज तक प्रचलित है। उनके विभिन्न रूपों की कल्पना प्राचीन धर्म और संस्कृतियों में प्रारम्भ से ही पायी जाती है। एक ओर वे कल्याणकारी देव हैं तो दूसरी ओर वे असुरों का संहार भी करते हैं। यहाँ तक कि वे असुरों को भी प्रसन्न होकर बड़े से बड़े दान देते है, जो उनकी महत्ता का सूचक है।

डॉ. नीलम रानी की पुस्तक 'प्राचीन भारत में शैव धर्म' विभिन्न श्रेणी के पाठकों के लिए महत्वपूर्ण है। मानव जीवन में धर्म का महत्व प्राचीन काल से ही रहा है। धार्मिक विचारों परम्पराओं तथा शिवशक्ति के द्वारा अनेक राजाओं, सामन्तों और सन्यासियों ने अपनी मनोकामनाएँ पूरी की। यह पुस्तक साहित्यिक और पुरातात्विक साक्ष्यों एवं प्राकृतिक स्थलों के विभिन्न पक्षों से पाठकों को परिचित कराती है। शिव का सबसे प्राचीन रूप हम सिन्धु घाटी की सभ्यता से देखते हैं मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से हमें शिव पूजा के अवशेष मिले है। वैदिक काल में शिव को रुद्र कहा गया है और उन्हें मध्यम श्रेणी का देवता माना गया है और शिव की गणना आकाश के देवताओं में की गई। फिर भी वैदिक कालीन समाज में रुद्र की व्यापकता बढ़ती गई और उनका विस्तार होता गया। ब्राह्मण ग्रन्थों में उन्हें ऊषा का पुत्र बताया गया है। सूत्र ग्रन्थों में रुद्र एक विशिष्ट देवता के रूप में विकसित हो रहे थे। जिनकी आराधना समाज में निरन्तर की जाती थी। उपनिषदों में हमें शिव का दार्शनिक रूप मिलता है तथा उनका सम्बन्ध ईश्वर जीव और प्रकृति–तत्वों से स्थापित किया गया है।

महाकाव्य काल में भी शिव का उल्लेख श्रेष्ठ देवता के रूप में हुआ है। ईसा से पूर्व चौथी तीसरी सदी के यूनानी राजाओं के विवरण से भी हमें शिव पूजा के रिवाज का साक्ष्य मिलता है। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में पंतजलि ने शिव–भागवत् की चर्चा की है। ईसा की प्रथम सदी के कुषाण राजाओं के सिक्के मिले है जिनसे उनके शैव मतावलम्बी होने का पता चलता है। गुप्त साहित्य कला और अभिलेख भी हमें शैव धर्म के बारे में जानकारी देते हैं। विवेच्यकाल तक आते–आते शैव धर्म पूर्ण विकसित और संगठित हो चुका था तथा वेदोत्तर ब्राह्मण धर्म के दो प्रमुख मतों में से एक बन गया था। इसका प्रचार भी समस्त उत्तर भारत में हो गया था। पौराणिक स्वरूप की अपेक्षा इसके दार्शनिक पक्ष का विकास इस समय अपनी पूर्ण विकसित अवस्था को पहुँच गया। विवेच्यकाल में ही शैव धर्म के अन्तर्गत अनेक सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। शिव की पूजा स्वतन्त्रता के

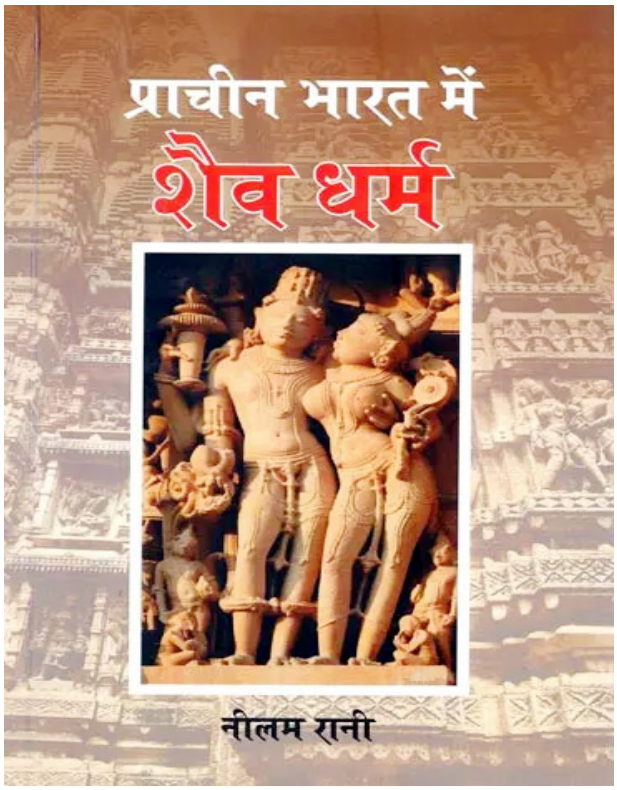

लिए प्रसिद्ध थी तथा वीरता और शक्ति के अनुकूल थी। गुहिलोत, परमार, चन्देल, चेदि, प्रतिहार, गहड़वाल और सेन सभी राजपूत राजवंश शैवधर्म को मानने वाले थे। उनके नामों के साथ परममाहेश्वर उपाधि का जुड़ा होना उनके शैव धर्मावलम्बी होने का प्रमाण है। शैव धर्म के अन्तर्गत मन्दिरों व मठों की स्थापना और संरक्षित मन्दिरों, मठों के विद्वान् आचार्यों द्वारा शैक्षिणिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में गतिविधि इस युग की विशिष्टता है। शिव मन्दिरों और मठों के अतिरिक्त शिव की विभिन्न मुद्राओं में मूर्तियाँ भी बनाई गई। इस समय तक शिव की उपासना का एक सामान्य रूप निर्धारित हो गया था। फिर भी जिन उनकी उपासना की जाती थी वे अनेक थे। शिव के ये विविध स नहीं रहे, अपितु उनकी संख्या में और भी वृद्धि हुई। शिव की विभिन्न उनके विविध रूपों के प्रतीक स्वरूप है। मानवीय कल्पना के अनुसार देवता मानवों से अधिक सशक्त हैं। वे प्रकृति की शक्तियों का नियन्त्रण करते हैं। देवताओं का सभी प्राणियों पर समान अधिकार है। साधारणतः देवता लोकोपकारी है। वैदिक कालीन धारणा के अनुसार आर्यों की देवताओं से अतिशय समीपता थी।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com